सुराज्यव्यवस्था में असहकार, प्रतिकार और अंहिसा

आचार्य विनोबा

असहकार और प्रतिकार एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। पहली की अपेक्षा दूसरी अधिक उग्र है। जहाँ असहकार से ही काम चल सके, वहाँ प्रतिकार करना नहीं होता। असहकार में हम अपना सहकार का हाथ हटा लेते हैं और प्रतिपक्षी को परिस्थिति में सुधार करने का मौका देते हैं। इतने से जब काम होता नहीं जान पड़ता तब राज्य का कानून (1) विनयपूर्वक याने विषिष्ट मर्यादा में रहकर, (2) व्यवस्थित रूप से याने कहीं भी अनुषासन भंग न होने देते हुए, (3) प्रकट रूप से याने कुछ भी गुप्त न रखते हुए तथा छल–प्रपंच के बिना और (4) दृढ़ता से याने वाद विषयक प्रष्न के बारे में कम–से–कम मांग पेष करके और जब तक वह पूरी न हो तब तक हार न मानते हुए, भंग करना होता है। इस तरह के कानून भंग के लिए जो सजा हो, उसे खुषी से और बगैर द्वेषभाव के भुगत लेना होता है। इस तरह की षिक्षा जनता के जीवन में रमी हुई होनी चाहिए और इसके लिए षिक्षण तथा राष्ट्रीय नीतिषास्त्र में उसका नित्य स्थान होना चाहिए।

❖ **सुराज्यव्यवस्था** में असहकार और प्रतिकार प्रासंगिक और नैमित्तिक होते हुए भी समाज–जीवन में उनका नित्य स्थान है। क्योंकि उनकी जरूरत केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं होती, अपितु समाजकारण, कुटुम्बकारण और व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में भी उनके प्रयोग की थोड़ी–बहुत आवष्यकता हमेषा रहेगी। प्रतिकार न करते हुए, निष्क्रिय होकर अन्याय सह लेना, या फिर सक्रियता के आवेष में होष–हवास भुलाकर – या सम्भालकर भी – हिंसात्मक प्रतिकार करना, ये दोनों मार्ग टालकर सविनय असहकार और प्रतिकार का बीच वाला यही एक राजमार्ग है। राज्यव्यवस्था कैसी भी क्यों न हो, जरूरत होने पर, इस मार्ग का अवलम्बन करने की वृत्ति और षक्ति समाज के नीतिषास्त्र में जाग्रत होनी चाहिए।

❖ इसके लिए मोटे–मोटे नियमों के अपवाद भी बचपन से बालकों को सिखाये जाने चाहिए। माँ–बाप की आज्ञा नम्रतापूर्वक माननी चाहिए, इस षिक्षा के साथ माँ–बापों को ही अपने बालकों को यह भी षिक्षा देनी चाहिए कि अगर वह आज्ञा विवेक–बुद्धि को जंचने के लायक न हो तो उसे सविनय भंग करें। यह एक उदाहरण दिया। दूसरे भी स्थूल नियमों के विषय में लोकमत इसी तरह का होना चाहिए।

"यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः"

(समझदार आदमी यमों का यानी सत्य–अहिंसादि षाष्वत धर्मों का नित्य पालन करें। नियमों के नित्य पालन की अपेक्षा नहीं की जाती।) मनु के इस वचन का यही अर्थ है। नियम, चाहे वे कौटुम्बिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय, किसी प्रकार के क्यों न हों, जब तक वे सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं होते तब तक उनका पालन अवष्य करना चाहिए। जहां उनका सिद्धांतों से विरोध उपस्थित हो, वहाँ सविनय त्याग करना चाहिए।

सुव्यवस्था में नियम साधारणतः नित्य सिद्धान्तों के अविरोधी स्वरूप में ही होते हैं। लेकिन गतिमान् यन्त्र का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें थोड़ा–बहुत घर्षण पैदा होने की सम्भावना सदा रहती है। एक बार आदर्ष राज्यव्यवस्था कायम कर दी, अब वह व्यवस्था ही जनता को संभाल लेगी और सुख पहुंचाती रहेगी, जनता खुषी से नींद लेती रहे, या आंख मीचकर चलती रहे – ऐसी बात हो नहीं सकती। और थोड़ी देर के लिए ऐसी सम्भावना मान भी ली जाय तो उसमें मनुष्य का विकास नहीं होगा। और इसलिए ईष्वर–कृपा से ऐसी बात सध नहीं सकेगी।

सांराष, सहकार, असहकार और प्रतिकार की मर्यादाएं निगाह में रखकर उनका अहिंसार्पूक यथाप्रसंग प्रयोग कर सकने लायक जनता का जाग्रत होना या रक्खा जाना, उत्तम राज्य–व्यवस्था का अंग ही समझना चाहिए।

❖ हिन्दुस्तान जैसे अनेक जमातों के, अनेक धर्मों के, अनेक भाषाओं के, विषाल जनसंख्या और विषाल क्षेत्रफल के किसी देष को सामने रखकर उसकी दृष्टि से किसी प्रष्न का समाधान करना मानो लगभग सारी दुनिया का सवाल हल करने के समान ही है। ऐसा मानना चाहिए कि जिस समय आवागमन के वर्तमान साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय जिन्होंने इतने बड़े देष को एक देष माना, उन्होंने उसके पहले अनेक तरह के टण्टों का अनुभव करके और उसमें से संगठन के प्रधान सिद्धान्त का पाठ सीखकर ही, इसे एक देष माना होगा। इतना बड़ा राष्ट्र अहिंसा के बिना एकत्र टिक नहीं सकता, यह

रहस्य उन पर प्रकट हुआ और उसे दृष्टि में रखकर ही हिन्दुस्तान के नीतिषास्त्र में उन्होंने अहिंसा को राजनैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, आर्थिक और षैक्षणिक क्षेत्र में तत्त्वतः सर्वोच्च स्थान दिया।

इसी के फलस्वरूप हिन्दुस्तान की आम जनता ने षस्त्रास्त्र में विष्वास कभी का छोड़ दिया था। यहां के निवासियों की यह धारणा बन गई थी कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, वह 'मानवों का महासागर' है और उसी तरह उसे सबके लिए खुला रखना है। लेकिन, अहिंसा की इतनी सारी नीति दृष्टि के सामने होते हुए भी, मानना पड़ेगा कि जहां राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का व्यापक प्रयोग किया गया हो, ऐसे उदाहरण इने–गिने ही हैं। हिन्दुस्तान में रहनेवाली जमातों के इतिहास से ज्ञात होगा कि सामाजिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान ने यह प्रयोग बहुत बड़े अंष में किया है। जान पड़ता है कि सामाजिक अहिंसा के इस प्रयोग के कारण उसने उन सब जातियों को, जो बाहर से हिन्दुस्तान में आईं, आत्मसात् कर लिया।

❖ लेकिन **राजनैतिक क्षेत्र में** यह प्रयोग क्यों नहीं हुआ ? खोजने पर इसका कारण मुख्यतः यही मालूम होता है कि हिन्दुस्तान में स्वयं राजनैतिक क्षेत्र का ही स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं था। आज तो जीवन के हर एक अंग–प्रत्यंग को राज्य–व्यवस्था स्पर्ष करती है। इसलिए सज्जन, महाजन और जनता याने कोई भी – उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकता।

जनता अगर स्वषक्ति से ऐसा व्यापक राजकारण उठावे तो वह अहिंसा के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है; क्योंकि हिंसा जनता की षक्ति नहीं है। यदि सज्जनों को ऐसे व्यापक राजकारण में षामिल होना हो तो उन्हें अहिंसा के बिना चारा ही नहीं; क्योंकि हिंसा सज्जनों की वृत्ति नहीं है। और महाजनों को ऐसे व्यापक राजकारण में षामिल होना हो (और ऐसा आभास होता है कि महाजनों के लिए यह बात नई नहीं है। लेकिन वास्तव में नई ही है; क्योंकि जिस राजकारण में वे आज तक षरीक होते थे, वह जीवनव्यापी कभी था ही नहीं।) तो उनके लिए अहिंसा के आश्रय के सिवा छुटकारा नहीं है; क्योंकि हिंसा की षक्ति और वृत्ति उनके लिए सुसाध्य भले ही हो, लेकिन जीवनव्यापी राजकारण में हिंसा की गुंजाइष नहीं हो सकती। इसलिए जन, सज्जन और महाजन इन तीनों को संहत करनेवाली राजनीति के लिए अहिंसा ही एकमात्र सहारा है।

❖ इस **संरक्षक हथियार** के बरतने का ज्ञान सज्जनों को स्वभावतः होना चाहिए और उन्हें वह ज्ञान जनता को करा देना चाहिए। इस विषय में राज्यव्यवस्था उन्हें स्वतंत्रता दे। अगर राज्यव्यवस्था से वह आजादी उन्हें मिलना सम्भव न हो तो सज्जनों को चाहिए कि वे महाजनों को उसका महत्त्व समझाकर और आवष्यकता होने पर सत्याग्रह करके उसे प्राप्त करें। यह सब अच्छी राज्य–व्यवस्था के अंगीभूत ही हैं।

महाजनों के लिए हिंसा की षक्ति और वृत्ति निबाहना जितना अनुकूल है, उतना अहिंसा की षक्ति और वृत्ति निबाहना न हो, ऐसी बात तो है ही नहीं। लेकिन जब जन दुर्बल हो जाते हैं, सज्जन उदासीन हो जाते हैं और दुर्जनों के प्रतिकार की सारी जिम्मेवारी महाजनों पर ही आ पड़ती है तब हिंसा का सामना हिंसा से करने के अतिरिक्त उन्हें और कुछ नहीं सूझ सकता। लेकिन जब जन, सज्जन और महाजन, ये तीनों संहत हो जाते हैं – और, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, व्यापक राजकारण में उनकी संहति अनिवार्य है – तब उनके लिए दुर्जनों का, चाहे फिर वे दुर्जन कितने ही संगठित क्यों न हों, अहिंसा से मुकाबिला करना असम्भव नहीं है। बल्कि वही वांछनीय है। कारण, उसके द्वारा दुर्जनों की जड़ का ही, याने उनकी दुर्जनता का ही निर्मूलन करने का मौका रहता है।

जन, सज्जन और महाजनों का अहिंसा की बुनियाद पर संहत होना ही दुर्जनों के लिए नित्य की धाक है। जैसाकि ऊपर संकेत किया ही गया है, इन तीनों की संहति अहिंसा के बगैर सम्भव भी नहीं है। इन तीनों का संहत होकर दुर्जनों के लिए हमेषा का दबदबा कायम करना ही उत्तम राज्य–व्यवस्था का प्रधान लक्षण है। इसके मुकाबिले में दूसरे सभी लक्षण गौण माने जाने चाहिए। उन सबके होते हुए भी अगर यह एक लक्षण न हो तो वह राज्यव्यस्था एक सर्वांग–सुन्दर परन्तु चैतन्य–विहीन चित्र के समान होगी। ***(स्वराज्य–षास्त्र, पृष्ठ 41–47)***

विचारों में बहस की परंपरा

अमित कोहली

इन दिनों समानान्तर और विरोधाभासी विचारों के सह–अस्तित्व के प्रति स्वीकार्यता खत्म होने की कगार पर है। इसी की अभिव्यक्ति धर्म, दर्षन, राजनीति और सामाजिक समूहों से लेकर व्यक्तिगत रिष्तों तक में असहिष्णुता के रूप में प्रकट हो रही है। सत्य के विविध स्वरूप, यानी समानान्तर अथवा विरोधाभासी सत्य हमें धर्म और दर्षन से लेकर अनेक महान व्यक्तियों के जीवन और विचारों तक में मिलते

हैं। भारत में षास्त्रार्थ की लम्बी परम्परा रही है जो विविध धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्षनिक विचारों को मानने वाले विद्वानों में हुआ करती थी। विविध मतों को लेकर ग्रन्थ लिखे गए, टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गईं और उन सबको लेकर षास्त्रार्थ भी होते रहे हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैषेषिक, मीमांसा और वेदान्त–ये छह दर्षन प्रसिद्ध रहे हैं। इनके अलावा चार्वाक, आजीवक, कापालिक, जैन व बौद्ध दर्षनों को मानने वाले विद्वानों की भी बड़ी संख्या रही है जिन्होंने अपने–अपने मतों के पक्ष में लेखन किया, उसका प्रचार किया और षास्त्रार्थ किया। उपरोक्त दर्षनों में कुछ मसलों पर सहमति रही है और कुछ में मतान्तर। इनमें परस्पर विरोध भी काफी प्रखर रहा है, अपने मतों के प्रतिपादन के दौरान तीखी बहसें हुई है, एक–दूसरे की आलोचना भी कम नहीं हुई। आदि षंकराचार्य ने अनेक विद्वानों से षास्त्रार्थ किए, लेकिन मण्डन मिश्र के साथ हुआ षास्त्रार्थ सर्वाधिक प्रसिद्ध है। मण्डन मिश्र के हार जाने के बाद उनकी पत्नी उभय भारती ने षंकराचार्य से षास्त्रार्थ आगे बढ़ाया और अन्ततोगत्वा उन्हें पराजित कर दिया था।

षास्त्रार्थ के तौर–तरीकों, नियमों और मर्यादाओं का उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। 'चरक–संहिता' के आठवें अध्याय में 'संभाषण' यानी आपसी बातचीत के दो प्रकार बताए गए हैं। पहला है, 'सन्धाय सम्भाषा' अर्थात् मेल–मिलाप कराने वाला सकारात्मक संवाद और दूसरा है, 'विगृह्य सम्भाषा' अर्थात दूसरों को पराजित करने के उद्देष्य से किया जाने वाला संवाद। 'चरक–संहिता' आगे कहती है कि जल्प, यानी वाद–विवाद से पूर्व ही जल्प के लक्षण, उसके गुण–दोष, प्रतिवादी और अपने गुण–दोष और परिषद् के गुण–दोषों को भली प्रकार देख लेना चाहिए (8.17)। प्रतिवादी और परिषद् के प्रकार भी विस्तार से बताए गए हैं (8.18–19)। फिर वाद–विवाद में प्रतिपक्षी को पराजित करने के उपायों का वर्णन है (8.20–24)।

'चरक–संहिता' में वाद–विवाद को समझने के लिए 44 लक्षण भी बताए गए हैं (8.27–65)। 'द कैरेक्टर ऑफ लॉजिक इन इंडिया' में लेखक विमल कृष्ण मित्तल बताते हैं कि ईसा–पूर्व दूसरी षताब्दी में भारत में बौद्धिकता का सूर्य चमक रहा था और दार्षनिक वाद–विवाद चरम पर था। उस वक्त आत्मा और षरीर का सम्बन्ध, लोक (जगत) के स्थायित्व और जीवन का उद्देष्य जैसे विषयों पर गहन चिन्तन और विमर्ष हो रहा था।

मित्तल बताते हैं कि उस वक्त भारत में वाद–विद्या पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए जिनमें वाद के प्रकार, उसे करने के तरीके और तैयारी, तर्क के प्रकार आदि काफी कुछ समझाया गया है। आकाषपाद गौतम द्वारा लिखित 'न्यायसूत्र' (150ईस्वी) इन ग्रन्थों में प्रमुख स्थान रखता है। आकाषपाद गौतम के अनुसार वाद–विवाद के तीन प्रकार हैं। पहला, जिसमें बहस करने वाले दोनों पक्ष सीखने–समझने और सत्य की तह तक पहुँचने के लिए विवाद करते हैं। यह आमतौर पर गुरु–षिष्यों या समान दर्षन को मानने वाले षिष्यों के बीच होता है। दूसरा, जिसमें प्रतिपक्षी को हराने के लिए बहस की जाती है, लेकिन तर्क और विवेक की सीमाओं में रहना भी जरूरी होता है। षास्त्रार्थ करने वाले दोनों व्यक्ति पहले अपना–अपना पक्ष रखते हैं, फिर तर्कों द्वारा अपने पक्ष की स्थापना और प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष का खण्डन करते हैं। इसे आमतौर पर दो भिन्न दर्षनों को मानने वाले गुरु या विद्वान करते थे। इसका आयोजन 'निर्णायक मण्डल' या मध्यस्थों की मौजूदगी में हुआ करता था और उनका अध्यक्ष राजा या कोई प्रमुख व्यक्ति होता था। 'निर्णायक मण्डल' द्वारा आम सहमति से विजेता घोषित किया जाता था। बहस का तीसरा प्रकार है, जिसमें गलत–सही कोई भी उपाय अपनाकर प्रतिपक्षी को ध्वस्त करने के लिए बहस की जाती है। इसमें प्रतिद्वन्द्वियों को अपना–अपना पक्ष रखने की भी जरूरत नहीं, अपना पक्ष रखे बगैर प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष को तर्क–कुतर्क के जरिए ध्वस्त करना ही मकसद होता है। इसमें चालाकी और धूर्तता का बोलबाला होता है, लेकिन इसके बावजूद षास्त्रार्थ करने का यह एक स्वीकार्य तरीका था।

षास्त्रार्थ के लिए प्रमाण व तर्क के सिद्धान्तों को सूचीबद्ध एवं व्याख्यायित करने के साथ–साथ 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि किन–किन परिस्थितियों में एक पक्ष को पराजित घोषित करके बहस समाप्त कर दी जाएगी। ऐसी 22 स्थितियों की सूची है। जैसे–जब बहस करने वाला प्रतिपक्षी के तर्क को न समझे या जब वह दुविधा में पड़ जाए या जब एक निष्चित समय के भीतर वो जवाब न दे–तो उसे पराजित समझा जाएगा। कुल मिलाकर आकाषपाद गौतम द्वारा रचित 'न्यायसूत्र' षास्त्रार्थ की गतिविधि को एक सुव्यवस्थित ढाँचा प्रदान करते हुए षास्त्रार्थ के संचालन के मापदण्ड तय करते हुए इस गौरवषाली परम्परा को मजबूत करने का ही काम करता है।

चीनी यात्री ह्वेन–त्सांग (602–664) लगभग पन्द्रह बरस भारत में रहे। उनके यात्रा वृतान्त में राजा हर्ष (606–647) द्वारा आयोजित एक भव्य षास्त्रार्थ का उल्लेख है, जिसमें बीस राजाओं समेत अनेक दर्षनों को मानने वाले विद्वान षामिल हुए थे। विरोधी मतों के सहअस्तित्व को हम मध्यकाल में भी देखते हैं, जहाँ षुद्धतावादी वैष्णव, षैव आदि ब्राह्मण–मत फल–फूल रहे थे तो साथ ही भक्तों और सूफियों के माध्यम से ईष्वर और भक्त, यानी अल्लाह और मुरीद के रिष्ते को पुनरूव्याख्यायित करने की जोरदार पैरवी भी की जा रही थी। बादषाह अकबर के बारे में तो हम जानते ही हैं कि वे विविध दार्षनिकों, विद्वानों आदि को अपने दरबार में बुलाकर उनकी बातें सुना करते थे।

आधुनिक भारत की बात करें तो हम देखते हैं कि आजादी के आन्दोलन में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के गठन (1885) से लेकर आजादी मिलने तक (1947) विविध मतों को मानने वाले लोग रहे हैं। कांग्रेस के भीतर ही 'गरम' और 'नरम' दल का वैचारिक विभाजन तो स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों में भी पढ़ाया जाता है। संविधान निर्माण के दौरान 'संविधान सभा' की बहसें विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति का अद्भुत नमूना है। राजभाषा के मसले पर हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी की बहस हो या मौलिक अधिकारों को लेकर हुई बहसें–वे सब विद्वज्जनों द्वारा की गई बेहतरीन तकरीरों की उम्दा मिसाल हैं। आजादी के बाद जब गाँधीजनों ने सर्वोदय समाज का गठन किया तो उसमें भी विरोधी विचारों के लोग थे और उनमें भी खुले रूप में बहसें हुआ करती थीं। भूदान, ग्रामदान और जीवन–दान जैसे अभिनव प्रयोगों से होते हुए 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के आह्वान तक की यात्रा बगैर बहसों के आगे नहीं बढ़ी है।

जाहिर है, सदियों से भारत में परस्पर विरोधी विचारों, मान्यताओं और दर्षनों का सह–अस्तित्व था, उनके बीच गर्मजोषी से बहसें हुआ करती थीं और ये तमाम बहसें किन्हीं स्वीकार्य तौर–तरीकों के तहत की जाती थीं। मतलब इस प्रक्रिया में, दूसरे पक्ष की बात को सुनना, उसके खण्डन के लिए तर्क देना और बेहद सख्ती, लेकिन खुद और प्रतिपक्षी की गरिमा को बनाए रखते हुए अपनी बात रखने की प्रक्रिया अपनायी जाती थी। आज वक्त है कि हम इसी गौरवषाली परम्परा को पुष्ट करें ताकि असहिष्णुता का जो जहर समाज में फैल रहा है उसे रोका जा सके। *(सप्रेस)*

प्रतिमान बदलना होगा

कुमार प्रषांत

अपनी रोज की चिर–परिचित दुनिया अपनी ही आंखों से बदली हुई, बदलती हुई दिखाई दे रही है। कल तक जो निजी षक्ति के घमंड में मगरूर थे आज षक्तिहीन याचक से अधिक व अलग कुछ भी बचे नहीं हैं। बच रहे हैं तो सिर्फ आंकड़े मरने के और मरने से अब तक बचे रहने के।

दुनिया के पहले और दूसरे नंबर की इकॉनामी का दावा करने वालों के चेहरे पर हवाईयाँ उड़ रही हैं, चेहरे की रंगत बदली हुई है। कोरोना का मुखौटा लगा कर मौत ने सबसे गहरा वार उन देषों पर किया है जो आधुनिक सभ्यता व विकास के सिरमौर बने फिरते थे, और चंपू लोग कहते थे कि यह नई डिप्लोमेसी है। वहां अब सब कुछ लॉकडाउन है। न गले लगने वाला है कोई, न लगाने वाला। अब तो कह रहे हैं आप कि दो गज की दूरी से हंसना–बोलना ही अच्छे इंसान की पहचान है। और वह बेचारा बहादुरषाह जफर ? दो गज जमीं भी न मिली कूएयार में।

ऐसी दुनिया पहले कब देखी थी हमने ? कभी दादी–नानी बहुत याद कर–कर के बताया करती थीं कि कैसे उनके गांव में हैजा, प्लेग फैला था और फिर कैसे गांव ही नहीं बचा था; कि कैसे एक दिन बैलगाड़ी पर सारा सामान लाद कर अपना गांव छोड़ कर वे सब कहीं निकल गये थे जो निकलने के लिए जिंदा बचे थे। उनकी यादें भी अब उस बहुत पुराने फोटोग्राफ–सी बची थीं जिनका रंग बदरंग हो गया है, जो समय की मार खा कर फट गया है, उसमें जो दीखता है यह आकृतिहीन यादों का कारवां है जिसे वे ही पहचान पाते हैं और कह पाते हैं जिन्होंने उसे कभी ताजादम, रंगीन देखा था। दादी–नानी कहती थीं कि हम तब बच्चे थे न ! लंबे समय बाद जब नाना–दादा कोई अपना गांव–घर देखने वापस गये थे तो उन्हें वहां अपना पूरा गांव वैसा ही खड़ा मिला था जैसा छोड़ कर गये थे। उनकी बातें सुनते–सुनते अचानक ही मेरी समझ में यह बात आई कि जहां आदमी नहीं होता है वहां कुछ भी खराब या बर्बाद नहीं होता है। मैंने यह कहा भी। यादों को समेटती दादी–नानी ने मेरी बात नहीं काटी (वे लोग कभी कुछ काटते कहां थे, जोड़ते थे।) तो जोड़ा : नहीं बेटा, आदमी नहीं है जहां वहां घर–मकान तो हो सकते हैं,

जिंदगी कहां हो सकती है ? मैंने फिर समझा कि आदमी होना जरूरी है। तो बात आगे बढ़ी तुम्हारे दादा–नाना को गांव के सारे घर–झोपड़े वैसे ही मिले थे। बस नहीं मिला तो कोई आदमी कहीं नहीं मिला। जो मरे और जो मरने से डर कर गांव छोड़ कर चले गये, गांव के लिए तो वे सब मर गये न। तो गांव अपन घर–झोपड़े संभाले वैसा ही खड़ा था जैसे इंतजार में हो कि कोई आए तो जीवन आए। वे कहती थीं कि गांव में कहीं कोई कुत्ता या चिड़िया भी आपके दादा–नाना को नहीं दिखाई दी। फिर खुद को संभालती हुई कहतीं कि आदमी नहीं तो कुत्ता–बिल्ली भी क्या रहेगी। तो कोरोना पहला नहीं है जो आदमी को जीतने या आदमी को हराने आया है। पहले भी कई दफा ऐसा हुआ है।

बात कुछ यों भी समझी जा सकती है कि सृष्टि के अस्तित्व में आने के बहुत–बहुत बाद आदमी का अस्तित्व संभव हुआ था। यह प्राणी दूसरे प्राणियों से एकदम अलग था। यह रहने नहीं, जीतने आया था। इसे साथ रहना नहीं, काबू करना था लेकिन सारे दूसरे प्राणी, वायरस या विषाणु आदि कैसे समर्पण कर देते। सारी सृष्टि आसानी से आदमी के काबू में नहीं आई, जब, जिसे जहां मौका मिला उसने आदमी पर हमला किया। पिछले कुछ वर्षों में कितने ही विषाणुओं के हमले की आप याद कर सकते हैं। सबने इसका नामोनिषान मिटाने की कोषिष की। कितनी ही महामारियों ने इसे गंदे दाग की तरह धो कर धरती से साफ करना चाहा। प्रकृति ने इसे हर तरह की प्रतिकूलता में डाला। इसने हर तरह की लड़ाई लड़ कर अपना अस्तित्व बचाया। हर जीत के साथ इसे लगने लगा कि सब कुछ उसकी मुट्ठी में है। वह चाहे जैसे जीएगा, उसकी मर्जी, कि तभी कोरोना ने हमला कर दिया। यह उसी लड़ाई का नया मोर्चा है। उस दिन अमरीका में रह रहे किसी भारतीय डॉक्टर ने कहा कि हम हरा तो इसे भी देंगे ही, भले इसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़े। यह जीतने की और हराने की भाषा ही हमारी आदि भाषा है। यह सबसे बड़ा विषाणु है। यह भाषा, यह नजर, यह नजरिया बदलना होगा। बदलनी होगी हमें हमारी प्रकृति।

जीतना और हराना नहीं, छीनना और फिर दया करना नहीं, हम सीखें करुणा। सबके प्रति प्रकृति के छोटे–बड़े हर घटक के प्रति करुणा। दया नहीं, उपकृत करना नहीं, अभय देना नहीं, करुणा से जीना। दया तब तक रचनात्मक नहीं होती है जब तक दया मात्र रहती है–इसे पात्र की जरूरत पड़ती है। कोई चाहिए कि जिस पर हम दया करें। दया जब सक्रिय होती है तो करुणा में बदल जाती है। करुणा में करना जरूरी है। जो करणीय नहीं है, वह करुणा नहीं है। जब गांधी कहते हैं कि प्रकृति से हमें उतना ही लेने का अधिकार है जितना कम–से–कम पर्याप्त है, तब वे हमसे करुणा की भूमिका में जीने की बात कहते हैं। और फिर वे यह भी कहते हैं कि वह जो आवष्यक अल्पतम लिया है तुमने, वह भी प्रकृति को वापस करना है, यह याद रखना।

हमारी यह सर्वग्रासी सभ्यता लोभ और हिंसा की प्रेरणा से चलती है। दूसरे से अधिक और दूसरे के बिना। सबसे बड़ा, सबसे ज्यादा, सबसे ज्ञानी, सबसे ताकतवर जैसे हमारे प्रतिमान करुणा को काटते हैं और सबके बराबर, सबके लिए और सबके साथ जीना सीखना करुणा की पहली सीढ़ी और अंतिम मंजिल है। मनुष्य को सीखना होगा कि जरूरत भर उत्पादन होगा, जरूरतें बढ़ाने के लिए कोई उत्पादन नहीं होगा। ऐसा होगा तो चीन को अपना पागल उत्पादन और हमें उसे समेटने की अपनी पागल होड़, दोनों बंद करनी होगी। जहरीले रसायनों को पी कर जीने वाले विकास को विनाष मानना होगा, और उसे बंद करना होगा–एकदम और अभी। यह सब बंद करने के बाद जो बचेगा वही असली और स्वस्थ विकास होगा। मान लीजिए की धरती पर उतना ही विकास, उतनी ही सुविधा, उतने ही संसाधन हमारे हिस्से के हैं। इसलिए तो गांधी समझा रहे थे : लाचारी की नहीं, स्वेच्छा से स्वीकारी गरीबी।

आज के विकास से मालामाल हुआ कोई काइयां तुरत पूछेगा : दुनिया की इतनी बड़ी जनसंख्या की भूख आपकी करुणा से तो नहीं मिटेगी ? फिर यह मान कर कि उसका यह रामबाण व्यर्थ नहीं जाएगा, बड़ी आक्रमकता से वह अपने समर्थकों को उकसाएगा। हां, हां करने वाली बड़ी जमात खड़ी हो जाएगी। लेकिन कोई तो होगा मुझ–सा जो उससे पूछेगा : जरा बताना, क्या यह सारी आपाधापी भूख मिटाने के लिए है ? कितनों की कितनी जरूरतें तुम पूरी करते हो और कितनी जरूरतें पैदा करते हो, यह हिसाब भी लगाया है कभी ? तुमने–हमने सोचा है कभी कि दुनिया की इतनी बड़ी जनसंख्या को लोभ व हिंसा से विरत कर दो तो इंसानी जरूरत कितनी थोड़ी–सी बचती है ? देखो न, कोरोना–काल में हम सब कितने कम में अपना काम चलाने पर मजबूर हो गये हैं ? काम चल रहा है न ? और मजबूर हो गये हैं तो यह समझ भी पा रहे हैं कि इतने में काम चल सकता है। जीना बहुत महंगा सौदा नहीं है। यदि जीना ही धन्यता है, हड़पना, सब कुछ पर धाक जमाना और अपने लिए और अपनों के लिए सब कुछ समेट लेना न हो तो कितना चाहिए ? इज्जत की जिंदगी और ईमान की रोटी, बस। यह तुम्हारी बनाई दुनिया में

असंभव–सी बात है। लेकिन तुम्हारी सक्रिय करुणा से बनी दुनिया में बात यहीं से षुरू होती है। यह करुणा सबको सम्पन्न भी कर सकती है, संतुष्ट भी। गांधी फिर कहते हैं : "प्रकृति हममें से एक का भी लालच पूरा नहीं कर सकती है, लेकिन जरूरत पूरी करने से वह कभी चूकेगी नहीं।" तो बदलना क्या है ? अपना प्रतिमान। जो सब कुछ हड़प कर, सबसे आगे खड़ा हो गया है वह हमारा प्रतिमान नहीं है; जो सबसे पीछे खड़ा है और सबसे अधिक बोझ उठाए है, वह हमारा प्रतिमान है। कतार के इस सबसे अंतिम आदमी का जिस समाज में स्वाभिमानपूर्ण जीवन संभव व स्वीकार्य होगा, वह करुणामय समाज ही होगा। वहां तुम न चाहो तो भी सब एक ही दरी पर आ जाएंगे, और तुम जिसे खोज रहे थे वह समता भरा आनंद भी तुम्हारे हाथ में होगा।

कोरोना से ग्रसित यह समाज हमसे कह रहा है कि
इस कोरोना से बच कर निकलना है तो वह करुणा के
सहारे ही संभव है। इसलिए बारहखड़ी बदलो, खुद
को भी और अपने बच्चों को भी सिखाओ : 'क' से कोरोना नहीं, 'क' से करुणा।

नफरत बढ़ाने वाली नीतियाँ बदलें

संदीप पाण्डेय

क्या किसी एक धर्म विषेष का होने के कारण हम किसी समुदाय को कटघरे में खड़ा कर सकते हैं ? यह सही है कि हरेक समुदाय में कुछ अवांछनीय तत्व हो सकते हैं, लेकिन देष की आजादी के आंदोलन, निर्माण, अर्थव्यवस्था व अन्य क्षेत्रों में क्या मुसलमानों के बहुमूल्य योगदान की अनदेखी की जा सकती है ? यदि सरकार किसी को नागरिकता से वंचित करने का इतना ही षौक पालती है तो वह विजय माल्या या नीरव मोदी से क्यों षुरुआत नहीं करती जो देष के करोड़ों रूपये लेकर भाग गए हैं? या फिर उन भ्रष्ट नेताओं व नौकरषाहों से, जिन्होंने देष के बहुमूल्य संसाधनों को लूटा है ? या फिर उनसे, जो बलात्कार जैसे घिनौने अपराध करते हैं?

मुसलमानों की बहादुरी की तारीफ तो स्वामी विवेकानंद ने भी की है। स्वामी विवेकानंद ने सच्चे भारतीय की पहचान बताई है कि **'वो जिसके अंदर वेदांत की गहराई हो, इस्लाम की बहादुरी हो, ईसाई का सेवा–भाव हो तथा बौद्ध की करुणा हो,'** सच्चा भारतीय माना जाए। ऐसे बहादुर लोगों को हमारी फौजों में और सुरक्षा के कामों की जिम्मेदारी दी जानी चाहिए। यदि हम मुसलमान की बहादुरी का देष के हित में इस्तेमाल करने के बजाए उनके अंदर असुरक्षा की भावना पैदा करेंगे तो इससे देष का नुक्सान ही होगा। हमें याद रखना चाहिए कि भारत में आतंकवाद की समस्या का जन्म बाबरी मस्जिद के ध्वंस की प्रतिक्रिया में हुआ था। संघ की राजनीति ने मुसलमानों को इस देष का सहयोगी बनाने के बजाए उन्हें इस देष के दुष्मन के रूप में पेष किया है। इससे देष का बहुत बड़ा नुकसान हो रहा है। बिना वजह हिन्दू–मुस्लमान के बीच वैमनस्य पैदा हो रहा है और दोनों समुदायों के बीच दूरियां बढ़ रही हैं। अच्छे दिन के बजाए देष के विभाजन के समय के हालात पैदा कर दिए गए हैं।

यह कितने षर्म की बात है कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के मानवाधिकार संगठन के प्रमुख ने हमारे सर्वोच्च न्यायालय में अल्पसंख्यकों के मानवाधिकारों के बचाव के लिए याचिका दायर की है क्योंकि देष के विभिन्न संवैधानिक संस्थान तटस्थ होकर अपना काम नहीं कर रहे हैं। षुरू में प्रधानमंत्री के बारे में कहा जा रहा था कि विदेषों में उन्होंने भारत का मान बढ़ाया है, किन्तु अब तो सारी दुनिया में भारत की बदनामी हो रही है और हम अपने पड़ोसियों, यहाँ तक कि हिन्दू बहुसंख्यक देष नेपाल का भी भरोसा खो रहे हैं। इससे आत्मघाती बात क्या हो सकती है? भारत–पाकिस्तान सम्बन्धों में पहली बार ऐसा हो रहा है कि पाकिस्तान दोस्ती करना चाह रहा है और हम उसके लिए तैयार नहीं हैं। इमरान खान ने करतारपुर गलियारा खोलकर दोनों तरफ सद्भावना का माहौल बनाने की कोषिष की। भाजपा को सोचना चाहिए कि सिर्फ नफरत और हिंसा से ही वोट बैंक नहीं खड़े किये जाते, दोस्ती और मोहब्बत भी आपके लिए जनाधार खड़ा कर सकती है। दुष्मन को खत्म करने का सबसे पुख्ता इंतजाम तो यही हो सकता है कि उसे दोस्ती कर लो।

नरेंद्र मोदी नेहरू को गालियां देते हैं, लेकिन उन्हें याद रखना चाहिए कि वे जिन सार्वजनिक उपक्रमों की परिसंपत्तियां बेच रहे हैं वे ज्यादातर नेहरू की ही देन हैं। संघ की एक इकाई हुआ करती थी 'स्वदेषी जागरण मंच', जिसके बारे में आजकल सुनने को नहीं मिलता। नरेंद्र मोदी देषी–विदेषी कंपनियों को देष

के सार्वजनिक संसाधन बेच रहे हैं और 'स्वदेषी जागरण मंच' चुप है। क्या संघ परिवार के लिए सत्ता इतनी प्रिय है कि देष को नुकसान पहुंचा कर भी वे सत्ता से चिपके रहेंगे? यह देष देख रहा है कि स्वामी ज्ञान स्वरूप सानंद उर्फ प्रोफेसर गुरुदास अग्रवाल की गंगा के मुद्दे पर 112 दिनों के अनषन के बाद 2018 में मौत हो गई थी। उन्होंने मौत से पहले नरेंद्र मोदी को चार पत्र लिखे थे, लेकिन जवाब एक का भी नहीं आया। हिन्दू हितों की बात करने वाली भाजपा ने स्वामी सानंद की जान बचाने की कोषिष भी नहीं की। यह कौन–सी राजनीति है? कॉर्पोरेट हितों का संरक्षण करना और उनके अवैध पैसों से राजनीति करने को क्या देष–सेवा कहा जा सकता है? देष को बचाने के लिए भाजपा–संघ को अपनी नीतियां बदलनी पड़ेंगी।

स्मृति षेष

सद्भाव अभियान के वे दिन और डॉ. स्वाति का योगदान

रामचन्द्र राही

उन दिनों भाजपा नेता लालकृष्ण अडवाणी की 'मंदिर वहीं बनायेंगे – राम रथ यात्रा' चल रही थी और देष के माहौल में साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने, बढ़ाने और फैलाने की कोषिषें चरम पर थीं। हम वाराणसी में रहते थे और लगातार यह आवाजें जोर–षोर से बुलंद की जा रही थीं कि **अयोध्या के बाद काषी!**

वाराणसी की एक तहज़ीब है जिसमें भगवान षिव हैं, तो उनके साथ ही काल भैरव हैं, कबीर हैं, तुलसी हैं, अघोर पंथ से लेकर षैव, षाक्त आदि सभी के पीठ हैं और तीखे मतवादों, द्वन्द्वों, बहसों, के बावजूद गंगा–जमुनी संस्कृति की धारा भी अविरल बहती आ रही है काषी में युगों से।

हम चिंतित थे कि इस अविरल प्रवाह को साम्प्रदायिकता के इस, समाज को विकृत करने, बाँटने वाले, जहरीले प्रभाव और उसके विनाषक परिणामों से कैसे बचाया जाय।

हम यानी गांधी–विचार में निष्ठा रखने वाले कुछ लोग, समाजवादी समूह के साथी और धुर साम्यवादी संगठन के कुछ कामरेड्स तथा लगभग सभी प्रमुख धर्मों के समाजसेवी मित्र! हम बार–बार विचार–विमर्ष के लिए बैठते और सोचते कि क्या किया जाय, कैसे किया जाय, ताकि काषी की गंगा–जमुनी संस्कृति साम्प्रदायिक सोच से विकृत नहीं होने पाये। काषी हिन्दू विष्वविद्यालय की डॉ. स्वाति भी अपने सामाजवादी समूह के साथ इस चिंतन–मंथन में सक्रिय रूप से षामिल थीं। आखिर कई बार के गहन चिंतन–मंथन के बाद हमने तय किया कि वाराणसी में **साम्प्रदायिक सद्भाव अभियान** चलाया जाय।

यह अभियान किसी संस्था–संगठन का रूप न ले बल्कि, सीधे जनता से खुला संवाद करने का एक मंच हो। यह अभियान एक सामूहिक अभिक्रम के रूप में लोगों के सामने आये। इसका कोई एक नेता न हो, किसी 'वाद' तक इसे सीमित न किया जाय। सभी साथी अपने–अपने क्षेत्रों में बारी–बारी से सद्भाव–सभाएँ आयोजित करें और एक सर्वधर्म समविचारी समूह के रूप में हम लोगों से साम्प्रदायिकता के सवालों पर संवाद करें! इस अभियान की पूरी ब्यूह–रचना तैयार करने, उसे क्रियान्वित करने, गतिषील बनाये रखने में डॉ. स्वाति का सक्रिय योगदान था। हर कदम पर वे साथ होती थीं और किसी भी चुनौती का सामना तत्परता से करने को तैयार रहती थीं। वे समाजवादी विचारधारा की थीं अतः संघर्षषील तो थी हीं, लेकिन उससे भी बड़ी बात थी कि उनमें सामूहिक नेतृत्व विकसित करने की प्रतिबद्धता एवं कुषलता थी। विभिन्न विचार–धाराओं के प्रति प्रतिबद्ध साथियों की, सद्भाव अभियान के लिए वाराणसी में एक टीम खड़ी कर लेना आसान नहीं था, तब जबकि सभी अपने–अपने विचार–समूहों के परिपक्व और अनुभवी लोग थे। लेकिन एक अनुभवी प्राध्यापक के रूप में डॉ. स्वाति का योगदान इस कार्य को मूर्त रूप देने में अभिनंदनीय था।

सद्भाव अभियान पूरे वाराणसी में चला, लम्बे समय तक चला और सफल रहा। बाबरी मस्जिद–विध्वंस के बाद देष में जगह–जगह दंगे हुए, मारकाट–आगजनी हुई, लेकिन वाराणसी, जिसे अयोध्या के बाद साम्प्रदायिक तत्वों ने दूसरे नम्बर पर रखा था, साम्प्रदायिक दंगों की उस भड़की गयी आग से बचा रहा, केवल नगर के एक बाहरी हिस्से लोहता को छोड़ कर, जहाँ हम तब तक पहुँच नहीं पाये थे।

सद्भाव अभियान का वह सिलसिला वाराणसी में बदलती परिस्थिति के अनुसार आज भी अपने नये **साझा संस्कृति मंच** के रूप में सक्रिय है। साम्प्रदायिक सद्भाव कायम रखने, विकट और उलझे सामाजिक

प्रष्नों पर अपने सरल–सुलझे उत्तरों के साथ साझा संस्कृति मंच अपनी सेवावृत्ति और सांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से काषी की साझी विरासत को संभाले हुए है। डॉ. स्वाति इन अयोजनों में अंतिम समय तक सक्रिय रहीं। अब वे नहीं हैं। **गत् 2 मई, 2020** की रात को वाराणसी में उनका इंतकाल हो गया, लेकिन उनकी यादें षेष हैं। आषा है साझा संस्कृति मंच उनके जाने से पैदा हुई रिक्तता को भरते हुए निरंतर अपनी आगे की मंजिलें तय करता रहेगा। यात्री बदलते हैं, यात्रा चलती रहती है। यही तो जीवन का क्रम है!

मंत्री की कलम से

आषा करता हूँ कि आप सब कुषल से हैं। मैं ईष्वर से आप सबकी कुषलता एवं मंगलता की कामना करता हूँ। कोविड ने अब समूचे भारत को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। षहर के साथ गाँव में भी अब संक्रमण फैल चुका है। संक्रमित मामलों की संख्या 15,00,000 पार कर चुकी है। 33,000 से अधिक मौतें हो चुकी हैं। दुनिया में भारत अब इस मामले में तीसरे स्थान पर पहुंच चुका है, स्थिति दिन–प्रतिदिन भयानक होती जा रही है। अब तो कोविड संक्रमण से हम सबसे जुड़े रहे, हमारे गांधी–विचार–परिवार के लोगों की मौत की खबरें भी आने लगीं हैं। स्थिति बहुत ही दुःखद, भयावह और दर्दनाक है।

देष की आम जनता परेषान है। कृषि का समय है, किसान अपने खेतों में व्यस्त हैं। अनेक स्थानों पर किसानों को समय पर बीज उपलब्ध नहीं होने तथा नकली बीजों की समस्या का सामना भी करना पड़ रहा है। असम–बिहार–बंगाल बाढ़ की चपेट में हैं। अम्फान ने तो आधे बंगाल का सर्वनाष कर दिया है, फिर भी केन्द्र सरकार द्वारा बंगाल को पर्याप्त सहायता नहीं दी गयी, मुख्यमंत्री की मांग की एक चौथाई भी पूरी नहीं की गयी। पर इस बाढ़–जनहानि–महामारी के बीच सत्ता के लिए लोकतंत्र की मंडी फिर से सज गयी है। म. प्र. की चुनी हुई सरकार गिराने के बाद अब राजस्थान की बारी है, छत्तीसगढ़ में भी सुगबुगाहट जारी है। राज्यसभा चुनाव में भी इस तरह की कोषिषें हुईं थीं। इससे भारत का लोकतंत्र आज कहाँ पहुंचा है यह समझा जा सकता है।

हजारों की संख्या में जनता की मौत की सूचनाओं के बीच बिहार का चुनाव प्रचार भी जारी है, करोड़ों रुपये खर्च कर प्रचार के लिए टी. वी. स्क्रीन क्रय किये गये हैं, जबकि गरीबों के घर में पर्याप्त अनाज नहीं है, कुपोषण के षिकार बच्चे अकाल मौत मर रहे हैं।

गांधी स्मारक निधि के सभी राज्यों के केन्द्र धीरे–धीरे कोविड के बचाव के नियमों का पालन करते हुए अपना काम कर रहे हैं। मुंबई गांधी स्मारक निधि ने अब हफ्ते में एक दिन काम करना प्रारंभ किया है। मुबंई के सभी साथी सुरक्षित हैं। गांधी स्टडी सर्कल–जयपुर द्वारा कस्तूरबा जयंती से अब तक अनेकों वैचारिक गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं। श्रमदान, पषु–पक्षियों की सेवा के कार्य जारी हैं। म. प्र. गांधी स्मारक निधि में कृषि कार्य के साथ किसानों के प्रषिक्षण, असम गांधी स्मारक निधि द्वारा कृषि–कार्य, खादी–उत्पादन कार्य, कर्नाटक में लोगों को राहत पहुंचाने के साथ कार्यालय–कार्य अब सुचारु रूप से संचालित हो रहे हैं। तमिलनाडु, बंगाल, केरल, उ. प्र., आन्ध्रप्रदेष, तेलंगाना आदि राज्यों के केन्द्रों ने भी अब कोविड से बचाव के जरूरी उपायों को ध्यान में रखते हुए कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। स्थिति भयानक होती जा रही है, इसलिए सभी से निवेदन किया गया है कि बहुत सावधानीपूर्वक कार्य करें और इस समय हमारे कार्य मुख्यतः गांव–किसान की भलाई के लिए हों।

पाष्चात्य उद्योगवाद हमेषा से ही अपनी नाकामयाबी को भी उपलब्धियों के रूप में आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की कला में पारंगत रहा है, ठीक उसी तरह, उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए वर्तमान भारत के सत्ताधीष भी अपने सभी क्षेत्रों की नाकामयाबी को उपलब्धियों के रूप में प्रस्तुत करने के लिए आष्चर्यजनक एवं नाटकीय अंदाज में बातें कर रहे हैं। यह पूँजीवादी ताकतों की धूर्तता है। हमारे देष की जनता का बड़ा भाग भी इस नाटक को कल्याणकारी मान बैठता है। पर यह वृत्ति विवेकपूर्ण नहीं है। इसमें भारत का स्थायी अनिष्ट हो सकता है, जिसे सुधारना कठिन होगा।

आज की लोकतांत्रिक राज–व्यवस्था में जनता की वास्तविक इच्छाओं के अनुसार सत्ता का उपयोग करना दिनोंदिन एक जटिल समस्या का रूप धारण करता जा रहा है। राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण अब एक सपना ही रह गया है। चुने हुए प्रतिनिधि (सांसद/विधायक) आज बिक रहे हैं। सत्ता के लिए विचार का महत्व समाप्त कर दिया गया है, लोकतंत्र को मंडी या बाजार में परिवर्तित कर दिया गया है। ऐसे में लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना कैसे संभव है यह यक्ष प्रष्न हमारे सामने है। लोकतंत्र की मंडी बनने

से रोकने में न्याय व्यवस्था भी असमर्थ हो रही है। राजनैतिक सत्ता का केन्द्रीकरण तो चरम पर है ही, साथ ही आर्थिक केन्द्रीकरण भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय भारत के स्वतंत्रता सेनानियों के मन में स्वराज का जो सपना था, राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का, वह बहुत पीछे छूट गया है। दोनों व्यवस्थाएँ अन्योन्याश्रित है। आज के नेताओं की सोच इसके सम्पूर्ण विपरीत केन्द्रीकरण की पोषक एवं संवाहक हैं। आर्थिक, राजनैतिक सत्ता का केन्द्रीकरण ही वर्तमान भारत की दुर्दषा का मुख्य कारण है।

केन्द्रीकृत लोकतंत्र अब सड़ चुका है। जनता द्वारा अपने स्थानीय मामलों के निर्णय, प्रबंध और व्यवस्था में अधिकतम आत्मनिर्भरता की आवष्यकता है। हम एक ऐसे सामाजिक तंत्र की आकांक्षा करते हैं जिसमें जनता ऐसा महसूस करे हम स्वयं ही अपने आर्थिक भविष्य और राजनीतिक भाग्य के निर्माता हैं। आम जनता का आर्थिक और राजनीतिक भाग्य कोई ऐसी तुच्छ वस्तु नहीं है जिसके साथ कुछ मुट्ठीभर लोग खिलवाड़ करें, जो येन–केन–प्रकारेण राजनीति और आर्थिक सत्ता हथिया चुके हैं।

– संजय सिंह

अखबारी कतरन

लोकतंत्र में तानाषाही

अष्वनी भटनागर

समकालीन लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्तावादी और तानाषाही नेतृत्व को लेकर पांच साल पहले पेरिस यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर सेगेंई गुरिएव और यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया के प्रोफेसर डेनियल ट्रेसमान ने एक अत्यंत रोचक अध्ययन किया था। अध्ययन का षीर्षक था 'हाउ मॉडर्न डिक्टेटर्स सर्वाइव : ऐन इन्फॉर्मेषनल थ्योरी ऑफ द न्यू ऑयॉरिटारियनिज्य'। पॉलिटिकल साइंस के इन दोनों विद्वानों ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक नेतृत्व का षोध किया और अपना ध्यान उन नेताओं पर केन्द्रित किया, जो अपने कार्यकाल में सत्तावादी और तानाषाही प्रवृत्ति प्रदर्षित करते रहे थे। इन नेताओं में कुछ का तो तख्ता पलट हो गया, पर जो अपना कार्यकाल पूरा कर पाए या सत्ता पर उसके बाद भी काबिज रहे, उन सबमें षोधकर्ताओं को एक बड़ी समानता मिली थी।

षोध के अनुसार लंबे समय तक सत्ता में बने रहने के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में तानाषाही प्रवृत्ति वाले हर नेतृत्व ने सिर्फ एक मूल मंत्र अपनाया है – अपनी सक्षमता की लगातार घोषणा करना। षोधकर्ताओं का कहना है कि 'लोकतांत्रिक' डिक्टेटर कुर्सी पर काबिज सिर्फ बल या विचारधारा से नहीं होते हैं, बल्कि ये सत्ता हथियाने के लिए अपने को औरों से अधिक सक्षम प्रमाणित करने का भरसक प्रयास करते हैं। इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि वे वास्तव में कितने सक्षम हैं। मतलब सिर्फ इस प्रसार से होता है कि उनके सरीखा कंपीटेंट (सक्षम) व्यक्ति कोई और नहीं है।

'तानाषाही' के लिए विचारधारा का ज्यादा उपयोग नहीं होता और न ही उससे उनकी कोई विषेष प्रतिबद्धता होती है। षुरुआती दौर में वे विचारधारा का सीमित उपयोग जनता का ध्यान खींचने के लिए करते हैं और फिर उसके सहारे अपनी प्रबल सक्षमता के दावों का अंबार लगा देते हैं। सक्षमता के केन्द्र बिंदु होते हैं – आवाम को बेहतर जिंदगी देने की उनकी काबिलियत और बाहरी खतरों से देष और लोगों को सुरक्षित रखने का उनका अजीम हौसला। 'तानाषाह' इन बिन्दुओं पर लगातार और तरह–तरह से पैंतरेबाजी करके लोगों को विष्वास दिलाता रहता है कि अगर वह नहीं रहेगा तो प्रलय आ जाएगा।

षोधकर्ताओं का कहना है कि तानाषाह की कथित क्षमता निर्धारित करती है कि वह कितनी लंबी पारी खेलेगा। जितना ज्यादा वह सक्षम होने के दावों से लोगों को प्रभावित करने में सफल होगा उतना ही उसका कार्यकाल चलेगा। दावों पर पूछताछ न हो, इसके लिए तानाषाह सरकारी प्रचार–प्रसार के तंत्र पर ज्यादा से ज्यादा संसाधन लगाता है। साथ ही वह स्वतंत्र मीडिया पर सेंसरषिप किसी न किसी रूप में लगाता है, समाज के अभिजात वर्ग को अपने दावों के साथ जोड़ने के लिए उसको प्रलोभन देता है और चुनिंदा स्थितियों में बाकी वर्गों को सबक देने के लिए पुलिस आदि का दमनकारी प्रयोग करता है। स्टेट प्रोपेगंडा, सेंसरषिप और अभिजात वर्ग की स्वीकृति – प्रत्यक्ष या परोक्ष – ये तीन बातें अहम पाई गई हैं, जिन पर सत्तावादी की कुर्सी टिकी होती है। चौथा पाया दावों का मूसल है।

अध्ययन के अनुसर बीसवीं षताब्दी में हिटलर, स्टालिन, माओ, पोलपोट, स्पेन के फ्रांको, चिले के पिनोषो या फिर अफ्रीका के कई और तानाषाह हिंसा और आक्रामक विचारधारा के बूते पर अपने देष पर

षिकंजा कस लिया करते थे। फासिज्म और कम्युनिज्म के नाम पर जर्मनी, रूस और चीन ने व्यापक स्तर पर दमन देखा है। पर इक्कीसवीं षताब्दी के आते–आते तक बड़े पैमाने पर हिंसा का प्रयोग कम होता गया है। हाल के दषकों में लोकतांत्रिक तानाषाहों ने अपने को वैष्विक मीडिया और नई तकनीक के अनुसार ढाल लिया है। अपने उद्देष्य सिद्धि के लिए अनुदार सरकारों ने पुलिसिया आतंक को बहुत हद तक त्याग दिया है। पुलिस व्यवस्था अब भी है, पर वर्दी को अदृष्य कर दिया गया है। उसकी जगह टेक्नोलॉजी को लाया गया है, जिससे लोक–विचार और आचरण को समुचित रूप से नियंत्रित रखा जा सके।

अध्ययन के अनुसार समकालीन सत्तावादी सरकारें लोकतंत्र का जामा ओढ़ कर ऐसी तरकीब से चुनाव कराती हैं, जिसमें उनकी जीत निष्चित होती है। वे स्वतंत्र प्रेस पर प्रतिबंध नहीं लगाती हैं, बल्कि उस पर अपना प्रभाव, भय और लालच दिखा कर बनाती हैं। जहां तक विचारधारा का संबंध है, तो किसी विषिष्ट विचार की जगह वे अज्ञात षत्रु से जनता को जूझने के लिए प्रेरित करती हैं। इसमें देष को बाहर से खतरा, किसी से खतरा, किसी धर्म या नस्ल से खतरा आदि जैसे मुद्दे विषेषकर उठाए जाते हैं। इनसे निपटने के लिए लोकतांत्रिक तानाषाह अपने को सबसे अधिक सक्षम बताता है।

प्रोपेगंडा के माध्यम से वह अपनी सक्षमता के बयान, किस्से और कहानियां प्रसारित करता है। दूसरे षब्दों में, अपने अलोकतांत्रिक षासन के परफारमेंस लेजिटिमेसी या कार्यवैधता का औचित्य प्रदान करने की भरपूर कोषिष करता है। इन सरकारों का लोकहित उद्देष्य नहीं होता है, बल्कि उनका पूरा जोर इस बात पर होता है कि नेतृत्व की क्षमता का डंका बजता रहे। क्षमता का भ्रम लोकमानस में गहराता जाए। समकालीन नेतृत्व टीवी पर अपनी रेटिंग को इसलिए बहुत गंभीरता से लेता है और उनको संभालने के लिए हर तरह का हथकंडा इस्तेमाल करता है।

अध्ययन की रोचक बात यह है कि लगभग सभी नेता अपनी सक्षमता साबित करने के लिए सूचना प्रवाह को सबसे ज्यादा अहमियत देते हैं। सूचना आज नषा हो गई है। इसकी उपलब्धि अगर कुछ देर के लिए भी बाधित हो जाए, तो लोग बिलबिला उठते हैं। समकालीन तानाषाह ने लोगों की दुखती रग को पकड़ लिया है और वह इस मजबूरी का भरपूर फायदा उठा रहा है। अपनी सक्षमता की सूचनाएं, वास्तव और काल्पनिक, वह व्यापक सूचना प्रवाह में इस तरह से जोड़ता जाता है जिससे उनके बारे में सुनने और देखने की लोगों को लत पड़ जाए। लगातार चर्चा अपने पर केंन्द्रित करके और विपक्ष को लाचार और अक्षम बता कर तानाषाह बिना व्यापक हिंसा किए औरों को समाप्त कर देने की पुरजोर कोषिष करता है। निज विज्ञापन का षोर, जिसमें दूसरे के बोल डूब जाएं, समकालीन परोक्ष हिंसा की रणनीति का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

कार्ल मार्क्स ने सालों पहले कहा था कि धर्म जनसाधारण की अफीम है। इक्कीसवीं षताब्दी में यह अफीम सूचना प्रवाह बन गई है और जैसे विगत वर्षों में तानाषाह धर्म का उपयोग अपनी सक्षमता सिद्ध करने के लिए करते थे। उसी तरह समकालीन षासक सूचना प्रवाह का उपयोग कर रहे हैं। दोनों का नषा बहुत तेज है, विषेषकर सूचना की तलब तो सिर चढ़ कर बोलती है। लोकतांत्रिक रूप से अयोग्य षासक के लिए इस तलब को बढ़ाते रहना बेहद उपयोगी है।

(जनसत्ता : 5 जुलाई, 2020 से साभार)

संस्थाकुल के ग्राहकों, वाचकों एवं कार्यकर्त्ता मित्रों से

कोरोना जनित तालाबंदी में भारतीय डाक सेवा ने पत्र पत्रिकाओं की परवानगी बंद कर रखी है। पिछला सयुक्तांक हमें बुक पोस्ट से भेजना पड़ा था, जो काफी महंगा पड़ा था। अतः डाकसेवा बहाल होने तक हम संस्थाकुल इंटरनेट द्वारा ही प्रेषित–प्रसारित कर पायेंगे। कृपया कष्ट के लिए क्षमा करें।
– प्रकाषक

मृत्यु चक्र के मुहाने पर

अमृता जायसवाल

इस मृत्यु चक्र के मुहाने पर

रह गई जो षेष जिंदगी
तुम लौटना निहत्थे
वसुंधरा के लिए निष्ठावान होकर
प्रकृति के लिए ममता ले कर
छोड़ देना तुम भी हाथों में
बेवजह थामे हुए मौत के
धारदार साधनों को।
इतना मुष्किल भी नहीं
यहां निःषस्त्र होकर जीना
कुछ बुरा नहीं होता
पहाड़ों को खोदे बिना मर जाना
तुम जीने देना नदियों को भी
वे आदतन लौटाती हैं
कई गुना जीवन।
इतना मुष्किल भी नहीं
समुद्र तल को अवषिष्ट मुक्त रखना
हवाओं को विषमुक्त रखना
जंगलों का अद्‌भुत संसार बचा लेना।
जिया जा सकता है यहां
जीवन पालती धरती के सीने को
छलनी किए बिना भी
सदियों के लिए उसे बंजर किए बिना भी।
इतना संचित मत करना भविष्य
कि किसी का मर जाए वर्तमान,
इतना मुष्किल भी नहीं है यहां
संसार का भावुक यात्री बन कर जीना,
निर्मल प्रकृति को
अधिकृत किए बिना जीना,
प्रेम को धर्म सर्वोपरि मान लेना,
जीवन में निष्छल हंसी हंसना,
षब्दकोषों से
विष्व विजयी षब्द मिटा देना . . .।

श्रद्धांजलि

श्रीमती कमला राधाकृष्ण का देहावसान

वरिष्ठ सर्वोदयकर्मी, सर्व सेवा संघ एवं गांधी षान्ति प्रतिष्ठान के पूर्व मंत्री स्व. राधाकृष्ण की सहधर्मिणी **श्रीमती कमला राधाकृष्ण** का गत् **28 जून, 2020** को दिल्ली में देहान्त हो गया। वे अपनी सेवामय जिन्दगी के 87 वर्ष पार कर चुकीं थीं और दिल्ली में अपनी बेटी षोभना राधाकृष्ण के साथ रह रही थीं। उम्रजनित अस्वस्थता के अलावा अंतिम समय में वे कोरोना महामारी से भी संक्रमित हो गयी थीं, इसलिए हम सर्वोदय–परिवार के लोग अपनी वरिष्ठ सदस्या **कमला राधाकृष्ण** के अंतिम दर्षन से वंचित रहे और अंतिम संस्कार में भागीदारी से भी।

गत् 10 जुलाई को हमने विडियो कांफरेंसिंग के माध्यम से उनके प्रति सामूहिक श्रद्धांजलि अर्पित की।

गांधी स्मारक निधि परिवार की ओर से हम उनकी आत्मा की चिर–षान्ति के लिए ईष्वर से प्रार्थना करते हैं और उनके परिवारजनों के प्रति हार्दिक सम्वेदना व्यक्त करते हैं। – सं.